वर्णाश्रम-धर्म *(Varnashram Dharma)*

वर्ण एक प्रकार की जाति है। प्रारंभ में आर्यों में जातिभेद नहीं था, किंतु आगे चलकर वर्णभेद की स्थापना हुई। चार प्रकार के वर्ण बने—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का काम वेदों का अध्ययन, पूजा-पाठ आदि है। क्षत्रियों का काम देश एवं समाज की रक्षा करना है। वैश्य का काम व्यापार आदि करना और शूद्र का काम अन्य सभी वर्णों के लोगों की सेवा करना है।

आज वर्णव्यवस्था का सम्मान कम होने लगा है। तुलसीदास की 'रामायण' में तथा बुद्ध के 'धम्मपद' में इस बात का उल्लेख मिलता है। धम्मपद का कहना है—"जटा, गोत्र एवं जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं बनता। ब्राह्मण कहलाने के लिए सत्य, धर्म एवं शुद्धता आवश्यक है।" राजा जनक वर्ण से क्षत्रिय होते हुए, कर्म से ब्राह्मण थे। इसी प्रकार, परशुराम वर्ण से ब्राह्मण होते हुए कर्म से क्षत्रिय थे। आजकल वर्ण-व्यवस्था की अधोगति सर्वत्र देखने को मिलती है। आज ब्राह्मण वेद का ज्ञान नहीं रखता, क्षत्रिय शस्त्र की पूजा नहीं करता, वैश्य व्यापार नहीं करता और शूद्र सेवा से भागना चाहता है। वंश के आधार पर कोई उच्च या नीच नहीं कहा जा सकता। कर्म से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है। इस प्रकार, आज वर्ण के स्थान पर कर्म की प्रधानता मानी जाती है।

मनु जिस प्रकार के चार वर्ण बताते हैं, उसी प्रकार वे चार आश्रम भी मानते हैं—1. ब्रह्मचर्य-आश्रम, 2. गृहस्थ-आश्रम, 3. वानप्रस्थ-आश्रम और 4. संन्यास-आश्रम। मनुष्य का संपूर्ण जीवन इन्हीं चार विभागों में विभक्त है। आश्रम का विभाजन उपनिषद्-काल में ही हुआ। ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्रह्मचर्यव्रत-पालन, इंद्रिय-निग्रह, व्यायाम, सेवा, भिक्षाटन, गुरुसेवा और विद्याध्ययन आवश्यक धर्म माने गए हैं। गृहस्थाश्रम में विवाह, संतानोत्पत्ति, पंचमहायज्ञ आदि आवश्यक धर्म बताए गए हैं। वानप्रस्थाश्रम में ईश्वर की आराधना और उसी में तल्लीन रहना धर्म बताया गया है। इस अवस्था में व्यक्ति की उम्र काफी अधिक हो जाती है और उसकी इंद्रियाँ अपेक्षाकृत कमजोर हो जाती हैं। इस आश्रम में व्यक्ति को सहिष्णु, दयालु, ईश्वरभक्त और परोपकारी होना आवश्यक है। संन्यास-आश्रम अंतिम आश्रम है। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक मोहमाया से ऊपर उठकर संन्यास ग्रहण करता है। उसमें ममता, लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि का सर्वथा अभाव हो जाता है। भिक्षाटन ही उसके जीविका का एकमात्र साधन रह जाता है।

'गीता' में भी कहा गया है कि व्यक्ति को अपने आश्रम एवं वर्ण के अनुकूल ही कर्म करना चाहिए। स्वधर्म पर मर जाना श्रेयस्कर है, किंतु दूसरों का धर्म तो भयंकर है ('स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः')। आज के भौतिकवादी युग में वर्णाश्रमधर्म को महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता।

धर्म *(Virtues)*

धर्म की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है। 'धृ' का अर्थ है 'धारण करना'। अतः, जो धारण

करने योग्य हो, वही धर्म है ('धियते यः स धर्मः')। धर्म का दूसरा अर्थ भी है—'जो संसार को धारण करे वह धर्म है'।

अधिकतर धर्म को 'Religion' के अर्थ में व्यवहृत किया जाता है, किंतु दोनों एक नहीं हैं। 'धर्म' का क्षेत्र 'Religion' की अपेक्षा अधिक व्यापक है। 'Religion' व्यक्ति के ईश्वर के प्रति कर्तव्यों का सूचक है; किंतु 'धर्म' व्यक्ति के सभी कर्तव्यों का सूचक है। इस प्रकार, 'धर्म' शब्द अपने विस्तृत अर्थ में 'कर्तव्य' का पर्यायवाची बन जाता है।

वेद आदि शास्त्रों के अनुकूल आचरण को 'धर्म' और इनके प्रतिकूल आचरण को 'अधर्म' कहा जाता है। श्रुति वेद हैं और स्मृति है मनु की लिखी हुई बातें। जिन कर्मों को वेदों और स्मृतियों का समर्थन प्राप्त है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया गया है, वे अधर्म हैं। धर्म के चार लक्षण बताए गए हैं—वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा का प्रिय होना।

मीमांसा में 'अलौकिक श्रेयसाधन' को धर्म की संज्ञा दी गई है। "वह साधन, जिससे श्रेयस, अर्थात् आनंद प्राप्त हो, किंतु क्यों यह ऐसा हुआ, अलौकिक या अदृश्य हो, तो वही धर्म है।" धर्म और अधर्म वेद की विधि और इसके निषेध पर निर्भर रहते हैं। इसलिए, धर्म 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' कहा जाता है। 'चोदना' शास्त्रों के आदेशों को कहा गया है। इस प्रकार वेदों के आदेश ही धर्म या अधर्म का निर्णय कर देते हैं। सांख्यदार्शनिक, धर्म को मानस की एक विशेष वृत्ति मानते हैं। मानस प्रकृति की उपज है, इसलिए धर्म-अधर्म का प्रश्न 'पुरुष' के विषय में नहीं उठता। न्याय और वैशेषिक धर्म को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। इसके अनुसार धर्म आत्मनिष्ठ (subjective) है; क्योंकि यह अभिप्राय (intention) पर निर्भर है। इसके विपरीत, मीमांसा के अनुसार धर्म विषयगत (objective) है। मीमांसा का विचार कांट के निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) से मिलता-जुलता है।

धर्मों का वर्गीकरण (Classification of Virtues)—मनुष्य ने धर्म के दो प्रकार बताए हैं—साधारण धर्म और वर्णाश्रम-धर्म। साधारण धर्म सभी मनुष्यों के लिए है, जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। यह धर्म निरपेक्ष (absolute) है। साधारण धर्म इस प्रकार के हैं—धैर्य, क्षमा, दम, चौर्याभाव शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। वर्णाश्रम-धर्म सापेक्ष (relative) होते हैं। जिस वर्ण या आश्रम का व्यक्ति होता है, उसके उसी प्रकार कर्तव्य होते हैं। इसी को वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं। व्यक्ति के वर्ण और आश्रम पर निर्भर रहने के कारण ही ये धर्म सापेक्ष माने जाते हैं। चार प्रकार के वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, पूजा-पाठ एवं दान ग्रहण करना है। श्रत्रिय का धर्म देश एवं समाज की रक्षा करना है। वैश्य का धर्म व्यापार आदि हैं और शूद्र का धर्म अन्य वर्णों के लोगों की सेवा करना है। इसी प्रकार, चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन, विद्याध्ययन आदि धर्म हैं। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति के धर्म हैं—विवाह करना, संतानोत्पत्ति करना एवं अन्य सांसारिक काम करना। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति ईश्वरभक्ति में रम जाता है। संन्यासाश्रम में व्यक्ति सांसारिक मायामोह के जाल को पूर्णतया काट देता है और लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, क्रोध आदि से सर्वथा मुक्त हो जाता है। व्यक्ति को अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल ही कर्तव्यपालन करना चाहिए। आचार्य मनु का यह मत ब्रैडले के 'स्थान और उसके कर्तव्य' (my station and its duties) के मिलता-जुलता है।

प्रशस्तपाद भी मनु की भाँति दो प्रकार के धर्म बताते हैं—(क) साधारण धर्म, जो सबके लिए है और (ख) विशेष धर्म, जो वर्णविशेष और आश्रमविशेष के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति का मनुष्य होने के नाते कुछ धर्म है और वर्णविशेष तथा आश्रमविशेष का सदस्य होने के कारण भी उसके कुछ विशेष धर्म होते हैं। सामान्य धर्म के उदाहरण हैं—धर्म के प्रति श्रद्धा, अहिंसा, सभी जीवों की भलाई, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि। विशेष धर्म के दो प्रकार हैं—वर्णधर्म और आश्रमधर्म। प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के अपने अलग-अलग धर्म हैं। इनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

मीमांसादर्शन में धर्म के दो प्रकार दीख पड़ते हैं—लौकिक और शास्त्रिक या पारमार्थिक। लौकिक दृष्टार्थ होते हैं, किंतु पारमार्थिक धर्म अदृष्टार्थ होते हैं।

Scanned with CamScanner

मीमांसादर्शन में बताया गया है कि किन-किन कार्यों का पालन और किन-किन कर्मों का परित्याग करना चाहिए। इनके अनुसार कई प्रकार के धर्म हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध और प्रायश्चित कर्म। प्रत्येक दिन व्यक्ति द्वारा किए जानेवाले कर्म नित्यकर्म हैं। जैसे—स्नान, ध्यान, सन्ध्या-पूजा इत्यादि। विशेष अवसरों पर किए जानेवाले कर्म नैमित्तिक कर्म हैं; जैसे—सूर्यग्रहण या मकर-संक्रांति के अवसर पर गंगास्नान। किसी खास लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किए गए कर्म काम्य हैं; जैसे—पुत्रप्राप्ति, धनप्राप्ति आदि के लिए यज्ञ, तप, व्रत आदि कर्म। जिन कर्मों के करने का निषेध किया जाता है, उन्हें निषिद्ध कर्म कहते हैं। इनके नहीं करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, किंतु करने से पाप होता है। निषिद्ध कर्म करने पर उसके फल से बचने के लिए व्यक्ति प्रायश्चित्त कर्म करता है। नित्य और नैमित्तिक कर्म धर्म समझकर करना चाहिए। इस प्रकार, 'निष्काम कर्म' ही मीमांसादर्शन में 'धर्म' माना गया है।

धर्म और कर्तव्य (Virtue and Duty)—'कर्तव्य' 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'करना'। इस प्रकार, 'कर्तव्य' का अर्थ होता है—'किए जाने योग्य कर्म'। कर्तव्य के साथ 'चाहिए' (ought) का भाव छिपा रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का वातावरण और उसका चरित्र अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा भिन्न होता है। इसलिए 'देश, काल और पात्र के अनुसार व्यक्ति के कर्तव्य निर्धारित होते हैं।' अतः, किसी विशेष देश, काल एवं परिस्थिति में किए जाने योग्य कर्म ही कर्तव्य (duty) कहे जा सकते हैं।

किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है—"कर्तव्य धर्म से ही व्युत्पन्न किया जा सकता है। धर्म सामान्य सिद्धांतरूप में है और कर्तव्य उसी के अनुसार विशेष कर्म। क्षमा धर्म है; परंतु किसी विद्यार्थी ने यदि हमारी निंदा की, तो उसे क्षमा कर देना हमारा कर्तव्य है। धर्म से ही कर्तव्य निकलते हैं। दोनों में विरोध नहीं है। कर्तव्य धर्म के विपरीत नहीं हो सकता। इसी प्रकार, धर्म और कर्तव्य के बीच संबंध दिखाते हुए कहा गया है—"धर्म और कर्तव्य में अंतर यह है कि जहाँ धर्म का स्वरूप शाश्वत, नित्य, निरपेक्ष, असीम और अनंत है, वहाँ कर्तव्य परिवर्तनशील, देशकालसापेक्ष, सीमित और परिस्थिति पर आश्रित है। कर्तव्य का उत्स भी धर्म ही है; क्योंकि धर्म को प्रमाण मानकर ही कर्तव्य की अनिवार्यता सिद्ध की जाती है।"

Scanned with CamScanner